हिन्दी और उर्दू कहानियों में चित्रित पसमांदा जीवन का सामाजिक यथार्थ : एक तुलनात्मक अध्ययन

अनीश

शोध-सारांश:

भारतीय मुसलमानों को अक्सर एक ही तरह के समाज के रूप में देखा जाता है, जबकि उनके बीच सामाजिक और बिरादरी के स्तर पर काफी फर्क रहा है। अशराफ़, अजलाफ़ और अरज़ाल के रूप में बनी यह सामाजिक बनावट मुस्लिम समाज के भीतर मौजूद ऊँच-नीच को सामने लाती है। इसी संदर्भ में पसमांदा समाज के जीवन, उसकी परेशानियों और सामाजिक हैसियत को समझना इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है। यह आलेख हिन्दी और उर्दू की कहानियों में पसमांदा जीवन के चित्रण का तुलनात्मक अध्ययन करता है।अध्ययन में दोनों भाषाओं की कहानियों को अलग-अलग देखने के बजाय एक ही सामाजिक सवाल को सामने रखकर उनकी तुलना की गई है। इसके लिए शोषण, मेहनत-मज़दूरी, छुआछूत, इबादतगाह में भेदभाव, बिरादरी-पंचायत, निकाह में कुफ़ू, नाम और उपनाम, शिक्षा, गाली-गलौज, स्त्री के अनुभव तथा कहानी कहने के ढंग जैसे पहलुओं को आधार बनाया गया है। इसके परीक्षण के लिए प्रेमचंद की जुर्माना, फ़ातिहा और पंच परमेश्वर, राशिद जहाँ की दिल्ली की सैर, सआदत हसन मंटो की नया क़ानून, कृष्ण चंदर की कालू भंगी, इस्मत चुग़ताई की नन्ही की नानी और दो हाथ, रज़िया सज्जाद ज़हीर की नीच, वाजिदा तबस्सुम की उतरन, ज़किया मशहदी की गुड़ रोटी, शूबी ज़हरा नक़वी की तश्तरी, शमोएल अहमद की चुनवा का हलाला, हुसैनुल हक़ की फ़ितरी अमल, सलमा जिलानी की स्वीपर, सलाम बिन रज़्ज़ाक़ की एकलव्य, अहमद सग़ीर की फ़ातिहा, ग़ज़नफ़र की रमी का जोकर तथा अनवर सुहैल की कुंजड़-कसाई, पीरू हज्जाम उर्फ़ हज़रत जी, चहल्लुम और मोहन धोबी जैसी कहानियों को आधार बनाया गया है। अध्ययन से यह पता चलता है कि उर्दू कहानी ने पसमांदा जीवन को सामाजिक वर्ग, संवेदना और अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया है, जबकि हिन्दी कहानी ने इसे बिरादरी, आत्मचिंतन और आर्थिक स्थिति के आधार पर देखा है। वहीं, दोनों भाषाओं की कहानियों में अरज़ाल कही जाने वाली बिरादरियों के जीवन और समस्याओं पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है

बीज शब्द: पसमांदा, अशराफ़-अजलाफ़-अरज़ाल, कुफ़ू, कहानी विधा, तुलनात्मक अध्ययन

भूमिका

साहित्य समाज का दर्पण भर नहीं होता, वह उसकी अदालत भी होता है। भारतीय मुस्लिम समाज के भीतर की ऊँच-नीच पर लम्बे समय तक एक भद्र चुप्पी छाई रही। हिन्दी और उर्दू, दोनों की कहानी ने इस चुप्पी को तोड़ा, पर दोनों के औज़ार, तेवर और डर अलग थे। यही अंतर इस आलेख का विषय है। तुलना यहाँ निष्कर्ष नहीं, पद्धति है, इसलिए हर शीर्षक स्वयं एक सामाजिक समस्या का तुलनात्मक जोड़ा है।

तुलना की शर्तें और सीमाएँ

किसी भी तुलनात्मक अध्ययन की पहली शर्त यह है कि तुलना की जाने वाली इकाइयाँ समतुल्य हों। इसीलिए यहाँ विधा को कहानी तक सीमित रखा गया है, क्योंकि उपन्यास और कहानी की तुलना करने पर अंतर विधागत निकलेगा, दृष्टिगत नहीं। दूसरी शर्त काल की है, और उस पर दोनों भाषाएँ लगभग बराबर खड़ी हैं, हिन्दी में प्रेमचंद और उर्दू में अंगारे की पीढ़ी एक ही दशक के आसपास इस संसार में दाख़िल होती है, तथा इक्कीसवीं सदी में अनवर सुहैल और तश्तरी के कहानीकार फिर एक साथ खड़े मिलते हैं। तीसरी शर्त सामाजिक इकाई की है, यानी दोनों तरफ़ वही बिरादरियाँ हों जिन पर बात हो रही है, और यहाँ भी संयोग अनुकूल है, क्योंकि जुलाहा, हज्जाम, कुंजड़ा, क़स्साब, धोबी और हलालख़ोर, ये सब दोनों भाषाओं की कहानियों में मिलते हैं।

चौथी शर्त सबसे नाज़ुक है और वह है लेखक की सामाजिक अवस्थिति। उर्दू में इस विषय पर लिखने वाले प्रारम्भिक लेखक प्रायः अशराफ़ या ऊपरी मध्यवर्ग से आए, इसलिए उनकी दृष्टि सहानुभूति की रही। हिन्दी में लिखने वाले मुस्लिम कहानीकार बड़ी संख्या में क़स्बाई और मेहनतकश पृष्ठभूमि से आए, इसलिए उनकी दृष्टि भागीदारी की रही। यह अंतर आगे के हर शीर्षक में देखा जा सकता है। इसके साथ यह भी ध्यान रहे कि प्रेमचंद दोनों भाषाओं के हैं, इसलिए वे तुलना के दोनों पलड़ों पर एक साथ रखे जा सकते हैं और इसी कारण वे इस अध्ययन के सबसे उपयोगी बिन्दु हैं। तुलना की सीमा यह है कि उर्दू की अधिकांश कहानियाँ यहाँ हिन्दी अनुवाद में पढ़ी गई हैं, इसलिए भाषिक बारीकी का कुछ अंश अनुवाद में क्षीण हो सकता है, और इस बात को निष्कर्ष निकालते समय ध्यान में रखा गया है।

हिन्दी-उर्दू कहानी की शुरुआत में अंतर

उर्दू कहानी का शुरुआती संसार बहुत हद तक अशराफ़ का संसार था, ड्योढ़ी, दालान, बालाख़ाना और नवाबी ज़वाल। इस चुप्पी में पहली दरार सन् उन्नीस सौ बत्तीस में अंगारे ने डाली और राशिद जहाँ की दिल्ली की सैर ने पहली बार एक साधारण घराने की स्त्री की आँख से शहर दिखाया। हिन्दी में यह दरार उससे भी पहले पड़ चुकी थी और वह किसी घोषणापत्र से नहीं, एक मेहतरानी की कटी हुई तनख़्वाह से पड़ी थी। दोनों आरम्भ-बिन्दुओं का चरित्र अलग है। उर्दू का आरम्भ विद्रोह का है, एक संकलन, एक विवाद, एक पाबंदी, फ़तवे और फिर एक आंदोलन। हिन्दी का आरम्भ निरीक्षण का है, एक अकेली कहानी, कोई हंगामा नहीं, पर सामाजिक ब्यौरा कहीं अधिक ठोस।

इस अंतर का असर लम्बा रहा। उर्दू में यह विषय आंदोलन के साथ जुड़कर आया, इसलिए वह जल्दी उठा और तरक़्क़ीपसंद तहरीक के ढलते ही धीमा पड़ गया। हिन्दी में यह विषय आंदोलन के बिना आया, इसलिए धीरे चला पर टूटा नहीं। यही कारण है कि उर्दू में इस धारा का इतिहास लहरों में मिलता है और हिन्दी में एक पतली पर लगातार बहती धारा के रूप में। तश्तरी जैसे संकलन का इक्कीसवीं सदी में आना बताता है कि उर्दू में यह लहर एक बार फिर उठी है, और इस बार वह आंदोलन से नहीं, आत्मालोचन से उठी है।

सहधर्मियों के शोषण का ढंग

पसमांदा जीवन की सबसे बड़ी सामाजिक समस्या यह है कि उसका शोषक अक्सर उसका ही सह-धर्मी होता है, और इस बिन्दु पर दोनों भाषाओं का रुख़ सबसे स्पष्ट रूप से अलग होता है। मंटो की नया क़ानून में उस्ताद मंगू कोचवान का शत्रु बाहर बैठा है, गोरा साहब, और उसका मशहूर फ़िक़रा इसी बाहरी शत्रु पर है, आग लेने आये थे, अब घर के मालिक ही बन गये हैं। मंगू को यक़ीन है कि नया क़ानून आते ही उसकी हैसियत बदल जाएगी, और कहानी की त्रासदी यह है कि क़ानून बदलता है पर उसकी जगह नहीं बदलती। पूरी कहानी में उसकी बिरादरी का नाम एक बार भी नहीं आता, क्योंकि उर्दू कहानी के लिए वह प्रश्न ही नहीं है।

प्रेमचंद की जुर्माना में शत्रु भीतर बैठा है। सफ़ाई का दारोग़ा ख़ैरात अली ख़ाँ नेकनाम और दयालु कहा जाता है, उसकी मातहती में सैकड़ों मेहतरानियाँ हैं और किसी की तलब नहीं कटती, पर अलारक्खी बराबर ताड़ना पाती रहती है। जब वह बीमार बच्ची को गोद में लिए काम करते हुए छुट्टी लेने की सलाह सुनती है तो उसका उत्तर पूरी व्यवस्था उघाड़ देता है, तलब कट जाती हुज़ूर, गुजारा कैसे होता। यहाँ शोषक और शोषित दोनों मुसलमान हैं, और लेखक किसी को धार्मिक पहचान की ढाल नहीं देता। यही वह जगह है जहाँ हिन्दी कहानी उर्दू कहानी से आगे निकल जाती है, क्योंकि वह आलोचना को समुदाय के भीतर ले आती है। समकालीन दौर में अनवर सुहैल की कुंजड़-कसाई इसी को नाम देकर कहती है, जहाँ मुहम्मद लतीफ़ क़ुरैशी का जवाब पूरे पसमांदा आंदोलन का सार बन जाता है, तमीज़ का ठेका तो तुम्हारे सैयदों ने जो ले रक्खा है।

पेशे का दर्शन और उद्देश्य

पसमांदा पहचान का आधार वंश नहीं, पेशा है, इसलिए दोनों भाषाओं की कहानियों में असली नायक प्रायः औज़ार बनता है। पर औज़ार का बरताव अलग है। कृष्ण चंदर की कालू भंगी में झाड़ू पात्र के शरीर का हिस्सा बन जाती है, लेखक लिखता है कि वह झाड़ू माँ के पेट से ही उसके साथ चली आ रही मालूम होती है, और कहानी का आरम्भ ही समय को जड़ बना देता है, मैं सात बरस का था जब मैंने कालू भंगी को पहली बार देखा। बीस बरस बाद कथावाचक उसे उसी हालत में पाता है, वही घुटने, वही झाड़ू, वही टूटे दाँत। यहाँ औज़ार नियति का प्रतीक है और समय ठहर जाता है।

प्रेमचंद की जुर्माना में वही झाड़ू नियति नहीं, हिसाब है। अलारक्खी पहर रात से झाड़ू लेकर निकलती है और नौ बजे तक एकचित्त होकर सड़क बुहारती है, फिर भी छह रुपये में से पाँच ही हाथ आते हैं, और वह परीक्षा वाले छात्रों की तरह बार-बार कटौती का तख़मीना लगाती रहती है। एक ही औज़ार उर्दू में दर्शन बन जाता है और हिन्दी में अर्थशास्त्र, एक में वह जीवन का प्रतीक है और दूसरे में मज़दूरी का उपकरण। इसका सीधा प्रभाव पाठक पर पड़ता है, उर्दू की कहानी पढ़कर करुणा जागती है और हिन्दी की कहानी पढ़कर क्रोध। आगे चलकर यही अंतर हुनर के प्रश्न पर लौटता है। उर्दू में सलाम बिन रज़्ज़ाक़ की एकलव्य शीर्षक से ही कहती है कि हुनर होने पर भी अवसर किसी और के लिए सुरक्षित रहता है, यानी वह मिथक का सहारा लेती है। हिन्दी में अनवर सुहैल की कहानियाँ यही बात बिरादरी का नाम लेकर कहती हैं, कि पेशा छूट भी जाए तो नाम नहीं छूटता। दोनों एक निष्कर्ष तक पहुँचती हैं पर रास्ते उलटे हैं, एक प्रतीक से चलती है और दूसरी दस्तावेज़ से।

अस्पृश्यता और अपमान के अलग-अलग रूप

इस्लाम में अस्पृश्यता का कोई विधान नहीं, फिर भी व्यवहार में उसका भारतीय रूप मौजूद रहा है। इस समस्या पर उर्दू कहानी हिन्दी से आगे निकलती दिखती है। तश्तरी संकलन की शीर्षक-कहानी, जो शूबी ज़हरा नक़वी की है, अलग तश्तरी, अलग गिलास और पाक-नापाक की धारणा को केन्द्र बनाती है, और उससे भी बड़ी बात यह है कि वह

जाति के खेल को दुतरफ़ा दिखाती है, जहाँ एक निम्न जाति का हिन्दू भी सम्पन्न मुसलमान को मलेच्छ मानकर अछूत जैसा व्यवहार करता है। हिन्दी की मुस्लिम कहानी में यह दुतरफ़ापन बहुत कम आया है, वहाँ प्रायः एकतरफ़ा भेद ही दर्ज होता है।

चित्रण की प्रविधि में फ़र्क़ इससे भी गहरा है। उर्दू कहानी अस्पृश्यता को वस्तु के ज़रिये दिखाती है, बर्तन, तश्तरी, गिलास, उतरा हुआ कपड़ा, और सलमा जिलानी की स्वीपर तथा कृष्ण चंदर की कालू भंगी में यह वस्तु से बढ़कर पूरे शरीर तक फैल जाती है, जहाँ सफ़ाईकर्मी को देखना भी असुविधाजनक मान लिया जाता है। हिन्दी कहानी अस्पृश्यता को व्यवस्था के ज़रिये दिखाती है, तनख़्वाह, हाज़िरी, जुर्माना और नौकरी से निकाले जाने का डर। एक में अपमान छूने से जुड़ा है और दूसरी में जीविका से, इसलिए उर्दू का चित्रण घृणा दिखाता है और हिन्दी का चित्रण भूख।

एक बात दोनों में समान है और वह यह कि यह अस्पृश्यता मौन होती है। किसी भी कहानी में कोई पात्र यह घोषणा नहीं करता कि तुम अछूत हो, बस बर्तन अलग रख दिया जाता है, बैठने की जगह बदल दी जाती है, खाना दरवाज़े पर रख दिया जाता है। यह मौन ही इसे शास्त्रीय जातिवाद से अलग और साहित्य के लिए अधिक कठिन बनाता है, क्योंकि इसे दिखाने के लिए घोषणा नहीं, ब्यौरा चाहिए। इसी कारण दोनों भाषाओं में सबसे सफल रचनाएँ वे हुईं जो घटना कम और दैनिक व्यवहार अधिक दिखाती हैं।

जातिगत इबादतगाहों के नए रूप

धार्मिक संस्थान वह जगह है जहाँ बराबरी का सबसे ऊँचा दावा किया जाता है, इसलिए वहीं जाति की सबसे कड़ी गवाही मिलती है। उत्तर भारत के अनेक क़स्बों में अंसारियों का कब्रिस्तान अलग रहा है और सैयदों-शेख़ों का अलग, कहीं एक ही अहाते में मेड़ खींचकर बँटवारा कर लिया गया, और हलालख़ोर बिरादरी के लिए प्रायः तीसरा ही कोना छोड़ा जाता रहा। मस्जिद में पहली सफ़ किसकी होगी, इमामत कौन कराएगा, जनाज़े की नमाज़ कौन पढ़ाएगा, ये सवाल बार-बार बिरादरी के हिसाब से तय हुए, जबकि क़ुरआन की सूरह अल-हुजुरात की तेरहवीं आयत कहती है कि सबसे इज़्ज़तदार वही है जो सबसे ज़्यादा परहेज़गार हो, और हुज्जतुल-विदा के ख़ुत्बे में दर्ज है कि किसी अरब को अजमी पर कोई बड़ाई हासिल नहीं।

इस समस्या पर उर्दू कहानी अनुष्ठान की ओर जाती है और हिन्दी कहानी आयोजन की ओर। अहमद सग़ीर की फ़ातिहा और अनीस रफ़ी की मौला दादा आएँगे धार्मिक कर्मकांड के भीतर छिपे पदानुक्रम को उघाड़ती हैं, और शफ़क़ की दूसरा कफ़न मृत्यु के बाद भी पीछा करती हुई बिरादरी को दिखाती है, यानी उर्दू कहानी यह पूछती है कि विधान की व्याख्या किसने की। इसके समानांतर अनवर सुहैल की चहल्लुम शोक के आयोजन को हैसियत के प्रदर्शन में बदलते हुए पकड़ती है और पीरू हज्जाम उर्फ़ हज़रत जी मज़ार, गंडा-ताबीज़ और आध्यात्मिक ठगी का पूरा तंत्र खोलती है, जिसमें हाशिये का आदमी कभी शिकार बनता है और कभी शिकारी, यानी हिन्दी कहानी यह पूछती है कि आयोजन का पैसा कहाँ से आता है और किसके पास जाता है। एक धर्मशास्त्र से जिरह करती है, दूसरी अर्थशास्त्र से।

शरीयत के जातिगत फरमान

बिरादरी-पंचायत इस पूरी व्यवस्था की कार्यपालिका है। उसका फ़ैसला शरीअत के नाम पर सुनाया जाता है पर होता रिवाज का है। हुक़्क़ा-पानी बंद कर देना, चंदे में हिस्सा न लेना, जनाज़े में शरीक न होना, ये दंड किसी फ़िक़्ह में नहीं मिलते, पर क़स्बे में सबसे कारगर हैं। दोनों भाषाओं ने इस संस्था को अलग-अलग जगह से पकड़ा है।

उर्दू कहानी में पंचायत प्रायः पृष्ठभूमि में रहती है, फ़ैसला पहले ही हो चुका होता है और कहानी उसके बाद के जीवन को उठाती है, इसलिए वहाँ पाठक दंड नहीं, दंड का घाव देखता है। हिन्दी कहानी पंचायत को मंच पर लाती है। प्रेमचंद की जुर्माना में यह प्रसंग सबसे स्पष्ट है, जहाँ हुसेनी अपनी पत्नी को ढाढ़स देते हुए कहता है कि सुनवाई न हुई तो पंचों से फ़रियाद करूँगा और चौधरी के दरवाज़े पर सर पटक दूँगा, और अलारक्खी का जवाबी तंज़ पूरे बिरादरी-संगठन की पोल खोल देता है कि ऐसी ही एकता होती तो दारोग़ा इतना जुर्माना करने पाता। एक ही संवाद में पंचायत की उम्मीद और उसकी विफलता, दोनों दर्ज हो जाती हैं। यह हिन्दी कहानी की विशिष्ट उपलब्धि है, क्योंकि यहाँ संस्था की आलोचना उसी संस्था के सदस्यों के मुँह से आ रही है, बाहर से नहीं।

जातिय पहचान की लड़ाई

पसमांदा संघर्ष का एक बड़ा हिस्सा नाम की लड़ाई रहा है। बीसवीं सदी में जब अंसारी, क़ुरैशी, मंसूरी, राईन और सलमानी जैसे उपनामों को अपनाने का आंदोलन चला, तो वह केवल शब्द बदलने की क़वायद नहीं थी, वह हैसियत की माँग थी, और मोमिन कॉन्फ्रेंस इसी लड़ाई का सबसे बड़ा संगठित रूप थी। कहानी में यह इतिहास सीधे बहुत कम आया, पर उसकी गूँज नामों में सुनाई देती है, और यहीं दोनों भाषाओं का सबसे दिलचस्प विरोध बनता है।

हिन्दी कहानी नाम को हथियार बनाती है। अनवर सुहैल के पात्र का पूरा नाम मुहम्मद लतीफ़ क़ुरैशी है और संक्षिप्त रूप एम. एल. क़ुरैशी, यह संक्षेपण स्वयं एक सामाजिक रणनीति है, बिरादरी को अक्षरों के पीछे छिपा देने की कोशिश। पर जब उसे तमीज़ का पाठ पढ़ाया जाता

है तो वह पीछे नहीं हटता और सैयदों के ठेके पर सवाल उठा देता है। यहाँ नाम छिपाया गया था पर बिरादरी का दावा खुला हुआ है। उर्दू कहानी इसके ठीक उलट नाम की अनुपस्थिति को हथियार बनाती है। इस्मत चुग़ताई की नन्ही की नानी इसी पर टिकी है, कहानी शुरू ही इस वाक्य से होती है कि नन्ही की नानी का माँ-बाप का नाम तो अल्लाह जाने क्या था, और वह जीवन भर बफ़ातन की लौंडिया, बशीरे की बहू, बिसमिल्लाह की माँ और अंत में नन्ही की नानी कहलाती रही। एक ओर पहचान छिपाई जाती है और फिर भी ललकार बनकर लौटती है, दूसरी ओर पहचान कभी दी ही नहीं जाती। हिन्दी का पात्र नाम के लिए लड़ता है और उर्दू का पात्र नाम पाए बिना ही चला जाता है।

इल्म और संघर्ष

ज़ियाउद्दीन बरनी ने चौदहवीं सदी में फ़तावा-ए-जहाँदारी में लिखा था कि नीच वंश वालों को इल्म और ओहदे से दूर रखा जाना चाहिए, और यह विधान कहानी में बहुत ठोस रूप में लौटता है। इस प्रसंग पर उर्दू कहानी का सबसे मार्मिक उदाहरण वाजिदा तबस्सुम की उतरन है। ख़ादिमा की बेटी चिमकी और नवाबज़ादी बी-पाशा को मौलवी साहब साथ-साथ क़ुरआन शरीफ़ और उर्दू क़ायदा शुरू कराते हैं, और चिमकी तेज़ निकलती है। पर पहला दौर पूरा होने पर इनाम में भी उसे बी-पाशा का उतरा हुआ भारी जोड़ा ही मिलता है। यानी शिक्षा से इनकार नहीं किया जाता, शिक्षा का फल छीन लिया जाता है। इसी पर वह अपनी माँ से पूछ बैठती है, मेरा क्या जी बोलता कि मैं भी कभी बी-पाशा को अपनी उतरन देऊँ, जिस पर माँ सिर पीट लेती है और अक़्ल से काम लेने की नसीहत देती है, क्योंकि ऐसी बात किसी ने सुन ली तो घर उजड़ जाएगा। नीचे वाले की इच्छा भी गुनाह है।

हिन्दी कहानी इसी प्रश्न को अगली सीढ़ी पर उठाती है, यानी शिक्षा के बाद के जीवन पर। अनवर सुहैल की रचनाओं में क़स्बे का पढ़ा-लिखा पसमांदा युवक दोहरी मार झेलता है, बाहर वह मुसलमान है और भीतर वह कमतर बिरादरी का। उर्दू कहानी बचपन में रुक जाती है और हिन्दी कहानी नौकरी तक जाती है, इसलिए उर्दू में यह प्रश्न करुण बनता है और हिन्दी में राजनीतिक। दोनों को साथ पढ़ने पर एक पूरा जीवन-चक्र बनता है, चिमकी का उतरा हुआ इनाम और एम. एल. क़ुरैशी का संक्षिप्त नाम एक ही रेखा के दो छोर हैं।

हिन्दी-उर्दू भाषा के जातिय रूप

जाति सबसे पहले ज़बान में उतरती है, और यहीं दोनों भाषाओं का सबसे बुनियादी अंतर बनता है। जुलाहे की अक़्ल जैसा मुहावरा, जिसमें बुद्धिहीनता को एक पूरे पेशे के साथ जोड़ दिया गया, दोनों की लोकोक्तियों में मौजूद है। कमीन और कमज़ात जैसे शब्द, जो शाब्दिक अर्थ में नीच वंश का बताते हैं, गाली बनकर इतने आम हुए कि उनका मूल भूल ही गया। कुंजड़ा और कसाई तो नाम से गाली बन गए, और हलालख़ोर शब्द का इतिहास और भी मार्मिक है, जो सफ़ाई-कर्म से जुड़ी बिरादरी को दिया गया एक सुंदर दिखने वाला नाम था पर व्यवहार में अपमान का पर्याय बन गया।

इस भाषिक हिंसा के सामने दोनों भाषाओं की रणनीति उलटी है। हिन्दी कहानी गाली को उठाकर शीर्षक बना देती है और इस तरह अपमान को अस्मिता के चिह्न में बदल देती है, कुंजड़-कसाई इसका सबसे साफ़ उदाहरण है। उर्दू कहानी गाली को उद्धृत करने से बचती है और अपमान को व्यवहार के ब्यौरे में दिखाती है, इसलिए वहाँ शीर्षक प्रायः तटस्थ रहते हैं, तश्तरी, उतरन, स्वीपर। एक भाषा शब्द को छीनकर उसे पलट देती है, दूसरी शब्द से दूरी बनाकर उसकी जगह दृश्य रख देती है। बोली के स्तर पर भी चाल अलग है। उर्दू अफ़साने की मुख्यधारा फ़ारसीनिष्ठ और परिष्कृत रही, इसलिए जब वह निचले तबके को उठाती है तो पात्र की बोली अक्सर लेखक की भाषा में ढल जाती है, और इसके अपवाद ही सबसे प्रभावी सिद्ध हुए हैं। वाजिदा तबस्सुम ने दक्खिनी उर्दू का वह ठेठ लहजा बचाया जिसमें चिमकी बोलती है, जी बोलना, देऊँ, बाताँ जैसे प्रयोग वहाँ भाषा नहीं, वर्ग हैं। मंटो ने अड्डे की गाली को हटाया नहीं, क्योंकि उसे हटाने पर अड्डा भी हट जाता। दूसरी ओर हिन्दी कहानी की मुख्यधारा ही बोली-प्रधान रही, इसलिए वहाँ यह संघर्ष करना ही नहीं पड़ा, और प्रेमचंद ने अलारक्खी तथा हुसेनी की बातचीत में तलब, जुर्माना, हुज़ूर और बरखास्त जैसे दफ़्तरी-उर्दू शब्द उसी तरह रखे जैसे वे नगरपालिका के मज़दूर के मुँह में होते हैं। निष्कर्ष यह कि भाषा के मामले में हिन्दी कहानी को परम्परा का लाभ मिला और उर्दू कहानी को परम्परा का बोझ।

रोटी-बेटी के नियम और स्त्री की स्थिति

शादी वह कसौटी है जहाँ हर समाज अपनी असली सीमा दिखा देता है, और मुस्लिम समाज में यह सीमा कुफ़ू के नाम से आती है। हिदाया और फ़तावा-ए-आलमगीरी जैसे फ़िक़्ही ग्रंथों में कुफ़ू की व्याख्या में वंश, पेशा और हैसियत तीनों शामिल हैं, और यही व्याख्या भारतीय ज़मीन पर आकर जाति-बंधन में ढल गई। मसूद आलम फ़लाही ने ऐसे अनेक फ़तवे जमा किए हैं जिनमें जुलाहे या नाई के लड़के का शेख़ या सैयद घराने में निकाह नामंज़ूर ठहराया गया।

इस बिन्दु पर दोनों भाषाओं की कहानियाँ एक ही दीवार के दो अलग सिरे पकड़ती हैं। हिन्दी में अब्दुल बिस्मिल्लाह की काफ़ू सीधे इसी

फ़िक़्ही अवधारणा को शीर्षक बनाकर विवाह-सम्बन्धी भेदभाव और सामाजिक हैसियत का प्रश्न उठाती है, यानी वह नियम को कठघरे में खड़ा करती है। उर्दू में शमोएल अहमद की चुनवा का हलाला उसी तंत्र का दूसरा सिरा पकड़ती है, जहाँ धार्मिक विधान स्त्री के शरीर पर लागू होकर बिरादरी की सत्ता को और मज़बूत कर देता है, यानी वह नियम के शिकार को सामने ले आती है। एक अवधारणा पर वार करती है, दूसरी परिणाम पर।

इसी सिलसिले में एक और सामाजिक अंतर उभरता है। उर्दू कहानी में रिश्ते का इनकार प्रायः घर के भीतर, धीमी आवाज़ में और परदे के पीछे होता है, क्योंकि उसका सामाजिक परिवेश देवड़ी और शरीफ़ घराना है। हिन्दी कहानी में यह इनकार गली, चौपाल और बिरादरी की सभा में होता है, क्योंकि उसका परिवेश क़स्बा और मुहल्ला है। इसका सीधा असर स्त्री-पात्र पर पड़ता है, उर्दू की स्त्री अपमान को भीतर सहती है और हिन्दी की स्त्री उसे सार्वजनिक रूप से झेलती है। यही कारण है कि हलाला जैसी प्रथाओं का सबसे कड़वा असर उसी तबके पर पड़ता है जिसके पास न वकील है, न बिरादरी में आवाज़, न दूसरे शहर चले जाने की गुंजाइश।

पसमांदा समाज की स्त्री दो चक्कियों के बीच है, एक ओर बिरादरी उसे नीचे रखती है और दूसरी ओर घर उसे और नीचे रखता है। ऊपर के तबके की स्त्री के पास कम से कम पर्दे के भीतर की एक दुनिया होती है, नीचे के तबके की स्त्री के लिए पर्दा भी विलासिता है, क्योंकि उसे झाड़ू लगाते, करघा चलाते, बीड़ी बनाते या दूसरों के घर काम करते हुए बाहर निकलना ही पड़ता है। इस साझा अनुभव को उठाने में दोनों भाषाओं ने अलग-अलग प्रविधि अपनाई है।

उर्दू कहानी स्त्री को भीतर से दिखाती है। इस्मत चुग़ताई नाम के मिट जाने से शुरू करती हैं, वाजिदा तबस्सुम इच्छा के गुनाह बन जाने से, रज़िया सज्जाद ज़हीर की नीच और ज़किया मशहदी की गुड़ रोटी अपमान के भीतरी घाव से, और सलमा जिलानी की स्वीपर पेशे के कलंक से। इन सबमें कथा-केन्द्र स्त्री की चेतना है। हिन्दी कहानी स्त्री को स्थिति से दिखाती है। अलारक्खी बीमार बच्ची को सड़क पर लिटाकर झाड़ू लगाती है, इसलिए नहीं कि वह निर्मम है, बल्कि इसलिए कि छुट्टी लेने का अर्थ है भूख, और उसकी सारी चेतना एक हिसाब में सिमट आती है कि इस बार कितना कटेगा। यहाँ कथा-केन्द्र स्त्री की परिस्थिति है। दोनों प्रविधियों का लाभ और सीमा स्पष्ट है, उर्दू की प्रविधि मन की गहराई देती है पर सामाजिक ढाँचा धुँधला रह जाता है, हिन्दी की प्रविधि ढाँचा साफ़ दिखाती है पर भीतरी आवाज़ कम सुनाई देती है।

एक बात दोनों में समान है। पसमांदा स्त्री की पीड़ा कहानी में प्रायः किसी बड़े अत्याचार के रूप में नहीं आती, वह रोज़मर्रा के छोटे-छोटे इनकारों के रूप में आती है, एक कटी हुई तनख़्वाह, एक उतरा हुआ कपड़ा, एक न पुकारा गया नाम। यही इस पूरे साहित्य का सबसे सूक्ष्म योगदान है, और इसी बिन्दु पर दोनों भाषाएँ एक-दूसरे की पूरक बन जाती हैं।

कहानियों के आख़िर में

शिल्प के धरातल पर उर्दू अफ़साने की परिष्कृत ज़बान और कसावट ने अक्सर खुरदुरे यथार्थ को सुंदर बना दिया और पीड़ा को एक सुगठित अंत दे दिया। मंटो की नया क़ानून का अंत बंद है, मंगू पिटता है, क़ानून वही रहता है और पाठक के लिए कोई गुंजाइश नहीं बचती। हिन्दी कहानी ने बोली को ज्यों का त्यों उठाकर खुरदुरापन बचाया और अंत को खुला छोड़ा। जुर्माना का अंत इसका सबसे अच्छा उदाहरण है, जहाँ खजांची अलारक्खी को पूरे छह रुपये दे देता है और वह चकित रह जाती है, क्योंकि तीन बरसों में कभी पूरा वेतन नहीं मिला था। पर कहानी सुखांत नहीं होती, वह इस वाक्य पर ख़त्म होती है कि उसका मन प्रसन्न न था और वह इस बात पर पछता रही थी कि दारोग़ा को गाली क्यों दी। यह अपराधबोध किसी दुखांत से भी अधिक भयावह है, क्योंकि वह दिखाता है कि शोषण भीतर तक उतर चुका है।

सम्बोधन और पाठक का अंतर इससे भी बड़ा है। उर्दू कहानीकार मुख्यतः अपने ही समुदाय के भीतर बोल रहा था, इसलिए उसके सामने यह डर था कि भीतर की बात बाहर न चली जाए, और इसी डर ने उसे संकेत, प्रतीक तथा वस्तु-चित्रण की ओर धकेला। हिन्दी कहानीकार बहुसंख्यक पाठक के सामने बोल रहा था, इसलिए उसके सामने उलटी चुनौती थी कि आत्मालोचन कहीं पूर्वग्रह का ईंधन न बन जाए, और इसी सावधानी ने उसे संतुलन की ओर धकेला। तीसरा शिल्पगत अंतर घनत्व का है, उर्दू की ये कहानियाँ प्रायः छोटी और एक ही स्थिति पर केन्द्रित हैं इसलिए उनका असर चोट जैसा होता है, हिन्दी की कहानियाँ अपेक्षाकृत लम्बी और ब्यौरा-प्रधान हैं इसलिए उनका असर दस्तावेज़ जैसा होता है। शोध की दृष्टि से यह अंतर निर्णायक है, क्योंकि उर्दू कहानी से जातिबोध की अनुभूति मिलती है और हिन्दी कहानी से जाति-व्यवस्था की जानकारी।

रचनात्मक शैली और एक-सी ख़ामोशी

एक अंतर ऐसा भी है जिस पर सबसे कम बात हुई है, और वह रचना का नहीं, उसकी स्वीकृति का है। हिन्दी में इन कहानियों को दलित विमर्श और अस्मिता विमर्श की आलोचनात्मक शब्दावली तैयार मिली, इसलिए उन्हें पढ़ने का ढाँचा पहले से मौजूद था और वे जल्दी पहचानी

गईं। उर्दू आलोचना ने लम्बे समय तक ऐसी शब्दावली विकसित नहीं की, इसलिए वहाँ ये कहानियाँ लिखी तो गईं पर एक धारा के रूप में चिह्नित नहीं हुईं, वे अलग-अलग रिसालों में बिखरी रहीं।

इसी अभाव को भरने की कोशिश तश्तरी है, जो मुस्लिम समाज में जातिगत भेदभाव पर आधारित अठारह उर्दू कहानियों को पहली बार एक जिल्द में लाता है। इसकी भूमिका को वीरेन्द्र यादव ने मुस्लिम कथाकारों और बौद्धिकों से एक साहसिक जिरह कहा है, क्योंकि वहाँ इस्मत चुग़ताई, राशिद जहाँ और क़ुर्रतुलऐन हैदर से लेकर असग़र वजाहत तक के लेखन में मौजूद जाति-श्रेष्ठता के भाव को प्रश्नांकित किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से यह घटना बहुत अहम है, क्योंकि इससे पता चलता है कि उर्दू में यह आत्मालोचन रचना से नहीं, सम्पादन और आलोचना से शुरू हुआ, जबकि हिन्दी में वह रचना से शुरू होकर आलोचना तक पहुँचा। दोनों की दिशा उलटी है, और यही कारण है कि उर्दू में इस विमर्श की उम्र कम दिखती है जबकि रचनाएँ पुरानी हैं।

तुलना केवल अंतर गिनाने का नाम नहीं, समानताएँ पहचानने का भी है, और इस विषय में सबसे बड़ी समानता चुप्पी की है। दोनों भाषाओं में अरज़ाल कही जाने वाली बिरादरियाँ अब भी परिधि पर हैं। जुलाहा, हज्जाम, कुंजड़ा और क़स्साब फिर भी कहानी के केन्द्र में आ गए, पर हलालख़ोर या लालबेगी का घर आज तक कथा का केन्द्र नहीं बना, कालू भंगी और स्वीपर जैसी अकेली रचनाएँ अपवाद ही हैं। दूसरी साझी चुप्पी पसमांदा आंदोलन के राजनीतिक इतिहास पर है, मोमिन कॉन्फ्रेंस से लेकर आज तक की लड़ाई दोनों भाषाओं की कहानी में लगभग अनुपस्थित है।

तीसरी साझी कमी आत्मकथात्मक स्वर की है, क्योंकि हिन्दी दलित कहानी ने भोगे हुए यथार्थ के बल पर जो विस्फोट किया, वैसा विस्फोट न हिन्दी की पसमांदा कहानी में हुआ है और न उर्दू की। चौथी और सबसे बारीक कमी यह है कि इन कहानियों में पसमांदा पात्र अक्सर देखा गया पात्र है, देखने वाला नहीं। कालू भंगी को एक बाहरी कथावाचक देखता है, चिमकी को लेखिका देवड़ी के भीतर से देखती है, अलारक्खी को प्रेमचंद बाहर से देखते हैं। यह दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण है, पर वह भीतर की दृष्टि नहीं है, और यही दोनों भाषाओं की सबसे बड़ी साझी सीमा है।

निष्कर्ष

तुलना का समग्र परिणाम यह है कि उर्दू कहानी ने पसमांदा जीवन को वर्ग, करुणा और अनुभूति के धरातल पर उठाया, जबकि हिन्दी कहानी ने उसे बिरादरी, आत्मालोचन और आर्थिक ब्यौरे के धरातल पर। उर्दू ने अपमान को छूने से जोड़ा, हिन्दी ने भूख से। उर्दू ने शत्रु को बाहर रखा, हिन्दी ने भीतर से उठाया। उर्दू ने धर्मशास्त्र से जिरह की, हिन्दी ने आयोजन के अर्थशास्त्र से। उर्दू बचपन तक जाकर रुक गई, हिन्दी नौकरी और पंचायत तक गई। उर्दू ने गाली से परहेज़ किया, हिन्दी ने उसे शीर्षक बना लिया। उर्दू ने अंत बंद रखा, हिन्दी ने खुला। इन उलटे रास्तों के बावजूद दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँचती हैं, कि बराबरी का धार्मिक दावा और ऊँच-नीच का सामाजिक व्यवहार भारतीय मुस्लिम जीवन में साथ-साथ चलते रहे हैं। दोनों को अलग-अलग पढ़ने पर आधा सच मिलता है और साथ पढ़ने पर पूरा। फिर भी यह पूरा सच बाहर से देखा गया सच है, क्योंकि सबसे नीचे की बिरादरियाँ अब तक अपनी कहानी ख़ुद नहीं लिख पाई हैं। कहानी की अगली ज़िम्मेदारी यही है कि वह इस आवाज़ के लिए जगह बनाए, दया के लिए नहीं, बराबरी के लिए।

संदर्भ सूची

1. सुहेल वहीद (सम्पादक), तश्तरी, मुस्लिम समाज में जातिगत ऊँच-नीच पर केन्द्रित उर्दू कहानियाँ, सेतु प्रकाशन समूह, नई दिल्ली, संस्करण 2025
2. वीरेन्द्र यादव, तश्तरी की आवरण-टिप्पणी, आवरण पृष्ठ- 4, सेतु प्रकाशन समूह, नई दिल्ली, 2025
3. मुंशी प्रेमचंद, जुर्माना, प्रेमचंद समग्र कहानी संकलन, हिन्दी समय डिजिटल संग्रह, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, अभिलेख संख्या 921, पृष्ठ 1
4. मुंशी प्रेमचंद, ईदगाह, मानसरोवर भाग एक, सरस्वती प्रेस, बनारस, पृष्ठ सँख्या 46
5. मुंशी प्रेमचंद, पंच परमेश्वर, मानसरोवर भाग सात, कहानी क्रम 12, सरस्वती प्रेस, बनारस पृष्ठ सँख्या- 70-72
6. मुंशी प्रेमचंद, फ़ातिहा तथा ज़िहाद, मानसरोवर भाग सात, कहानी क्रम 15 एवं 14, सरस्वती प्रेस, बनारस पृष्ठ सँख्या 158-167
7. सआदत हसन मंटो, नया क़ानून, मंटो अब तक श्रृंखला भाग चौदह, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ सँख्या 27,28
8. कृष्ण चंदर, कालू भंगी, Classic Urdu Stories, The Penguin Book पब्लिकेशन पृष्ठ 24
9. इस्मत चुग़ताई, नन्ही की नानी, रेख़्ता डिजिटल अफ़साना संग्रह, रेख़्ता फ़ाउंडेशन, नोएडा, कहानी पृष्ठ 1
10. वाजिदा तबस्सुम, उतरन, छठी कहानी, पहला संस्करण, प्रकाशक - अशफ़ाक़ अहमद, 1977
11. अनवर सुहैल, कुंजड़-कसाई, कथा संग्रह गहरी जड़ें , एपीएन पब्लिकेशंस, नई दिल्ली 2020, प्रथम संस्करण पृष्ठ 112
12. अनवर सुहैल, पीरू हज्जाम उर्फ़ हज़रत जी, , सँग्रह, गहरी जड़ें ,एपीएन पब्लिकेशंस, नई दिल्ली 2020 , प्रथम संस्करण पृष्ठ 92

13. अनवर सुहैल, गहरी जड़ें, कहानी संग्रह, एपीएन पब्लिकेशंस, नई दिल्ली 2020, प्रथम संस्करण, पेज सँख्या - 62

14. अली अनवर, मसावात की जंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2001, पृष्ठ सँख्या - 67

15 मसूद आलम फ़लाही, हिन्दुस्तान में ज़ात-पात और मुसलमान, आइडियल फ़ाउंडेशन, मुंबई, संस्करण 2007, पेज सँख्या 40-43

16. डॉ. ग़ौस अंसारी, मुस्लिम कास्ट इन उत्तर प्रदेश, एथ्नोग्राफ़िक एंड फ़ोक कल्चर सोसाइटी, लखनऊ, संस्करण 1960

17. प्रो. इम्तियाज़ अहमद (सम्पादक), कास्ट एंड सोशल स्ट्रैटिफ़िकेशन अमंग मुस्लिम्स इन इंडिया, मनोहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण 1978

18. ज़ियाउद्दीन बरनी, फ़तावा-ए-जहाँदारी, इदारा-ए-अदबियात-ए-दिल्ली, दिल्ली

19. भारत सरकार, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति पर उच्च स्तरीय समिति की रिपोर्ट, प्रधानमंत्री कार्यालय, नई दिल्ली, 2006